अनुवादक : डॉ। आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

और आना घर में मुर्ग़ियों का

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

निवेदन किया "कुछ भी हो। मैं घर में मुर्ग़ियाँ पालने का रवादार नहीं। मेरा पक्का ईमान है कि उनका सही स्थान पेट और प्लेट है और शायद-------"

"इस पक्के ईमान में मेरी तरफ़ से पतीली का और इज़ाफ़ा कर लीजिए।" उन्होंने बात काटी।

फिर निवेदन किया "और शायद यही कारण है कि हमारे यहाँ कोई मुर्ग़ी अपनी प्राकृतिक उम्र को नहीं पहुँच पाती। आपने ख़ुद देखा होगा कि हमारी दावतों में मेज़बान के प्रेम की प्रगाढ़ता का अनुमान मुर्ग़ियों और मेहमानों की संख्या और उनके अनुपात से लगाया जाता है।"

फ़रमाया "यह सही है कि इंसान रोटी पर ही ज़िन्दा नहीं रहता —— उसे मुर्ग़-मुसल्लम की भी ख़्वाहिश होती है। अगर आपकी आस्था है कि ईश्वर ने मुर्ग़ी को सिर्फ़ मनुष्य के खाने के लिए पैदा किया तो मुझे इस पर क्या आपत्ति हो सकती है। साहब! मुर्ग़ी तो दरकिनार, मैं तो अंडे को भी दुनिया की सबसे बड़ी नेमत समझता हूँ। ताज़े ख़ुद खाइए। गंदे हो जाएँ तो होटलों और सियासी जलसों के लिए दुगने दामों बेचिए। यूँ तो इसमें —— मेरा मतलब है ताज़े अंडे में *हज़ारों ख़ूबियाँ ऐसी कि हर ख़ूबी पे दम निकले*[1] । मगर सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि फूहड़ से फूहड़ औरत किसी तरह भी पकाए ज़रूर मज़ेदार पकेगा। अंडा-भुजिया, आमलेट, अध-पका, तला हुआ, हलवा——"

इसके बाद उन्होंने एक बेहद पेचीदा और उलझा हुआ भाषण दिया जिसका सार यह था कि आमलेट और अंडा-भुजिया वग़ैरह बिगाड़ने के लिए असाधारण हुनर और सलाहियत दरकार है जो आज के ज़माने में नदारद है।

मतभेद की गुंजाइश नज़र न आई तो मैंने पैंतरा बदलकर वार किया "यह सब ठीक! लेकिन अगर हम मुर्ग़ियाँ खाने पर उतर आये तो एक ही महीने में दरबे के दरबे साफ़ हो जाएँगे।"

कहने लगे "यह नस्ल मिटाए नहीं मिटती। जहाँ तक इस प्रजाति का सम्बन्ध है दो और दो चार नहीं चालीस होते हैं। यक़ीन न आये तो ख़ुद हिसाब करके देख लीजिए। मान लीजिए आप दस मुर्ग़ियों से मुर्ग़ीपालन की शुरूआत करते हैं। एक आला नस्ल की मुर्ग़ी साल में औसतन दो सौ से ढाई सौ तक अंडे देती है। लेकिन आप चूँकि स्वभावत: निराशावादी हैं, इसलिए यह माने लेते हैं कि आपकी मुर्ग़ी सिर्फ़ डेढ़ सौ अंडे देगी।"

---

[1] हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी कि हर ख़्वाहिश पे दम निकले // बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले (ग़ालिब)

मैंने टोका "मगर मेरे निराशावाद का मुर्ग़ी के अंडे देने की सलाहियत से क्या सम्बन्ध?"

बोले "भई, आप तो क़दम-क़दम पर उलझते हैं। निराशावादी से ऐसा व्यक्ति तात्पर्य है जिसका यह विश्वास हो कि ईश्वर ने आँखें रोने के लिए बनाई हैं। ख़ैर, इसको जाने दीजिए। मतलब यह है कि इस हिसाब से पहले साल में डेढ़ हज़ार अंडे होंगे और दूसरे साल उन अंडों से जो मुर्ग़ियाँ निकलेंगी वो दो लाख पचीस हज़ार अंडे देंगी, जिनसे तीसरे साल इसी सतर्क अनुमान के अनुसार, तीन करोड़ सैंतीस लाख पचास हज़ार चूज़े निकलेंगे। बिल्कुल सीधा सा हिसाब है।"

"मगर ये सब खायेंगे क्या?" मैंने बेसब्री से पूछा।

फ़रमाया "मुर्ग़ और मुल्ला की रोज़ी-रोटी की फ़िक्र तो अल्लाह मियाँ को भी नहीं होती! इसकी खूबी यही है कि अपनी रोज़ी-रोटी खुद ही तलाश करता है। आप पालकर तो देखिये। दाना-दुनका, कीड़े-मकोड़े, कंकड़-पत्थर चुग के अपना पेट भर लेंगे।"

पूछा "अगर मुर्ग़ियाँ पालना इतना आसान और लाभदायक है तो आप अपनी मुर्ग़ियाँ मुझे क्यों देना चाहते हैं?"

फ़रमाया "यह आपने पहले ही क्यों न पूछ लिया? नाहक़ बहस-तकरार की। आप जानते हैं मेरा मकान पहले ही किस क़दर छोटा है। आधे में हम रहते हैं और आधे में मुर्ग़ियाँ। अब मुश्किल यह आ पड़ी है कि कल कुछ ससुराली रिश्तेदार छुट्टियाँ बिताने आ रहे है। इसलिए ——"

और दूसरे दिन उनके आधे मकान में ससुराली रिश्तेदार और हमारे घर में मुर्ग़ियाँ आ गईं।

अब इसको मेरी नादानी कहिए या सच्ची नीयत कि शुरू-शुरू में मेरा विचार था कि आदमी प्रेम का भूखा है और जानवर इसलिए पालता है कि अपने मालिक को पहचाने और उसकी आज्ञा का पालन करे। घोड़ा अपने सवार का आसन और हाथी अपने महावत का आंकुस पहचानता है। कुत्ता अपने मालिक को देखते ही दुम हिलाने लगता है, जिससे मालिक का मन खुश होता है। साँप भी सपेरे से हिल-मिल जाता है। लेकिन मुर्ग़ियाँ? मैंने आज तक कोई मुर्ग़ी ऐसी नहीं देखी जो मुर्ग़ के सिवा किसी और को पहचाने। और न ऐसा मुर्ग़ नज़र से गुज़रा जिसको अपने-पराए की तमीज़ हो। महीनों उनकी देखभाल और सँभाल कीजिए। बरसों हथेलियों पर चुगाइये। लेकिन क्या मजाल कि आपसे ज़रा हिल-मिल जाएँ। मेरा मतलब यह नहीं कि मैं यह उम्मीद लगाए बैठा था कि मेरे चौखट पर क़दम रखते ही मुर्ग़ सर्कस के तोते की तरह तोप चलाकर सलामी देंगे, या चूज़े मेरे पाँव में वफ़ादार कुत्ते की तरह लोटेंगे, और मुर्ग़ियाँ अपने-अपने अंडे "*सिपुर्दम बतू माया-ए-ख़ेश रा*"[1] कहती हुई मुझे सौंपकर उल्टे क़दमों वापस चली जाएँगी। फिर भी पालतू जानवर से, चाहे उनका खाना शरीयत के मुताबिक़ हलाल ही क्यों न हो, यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह हर चमकती हुई चीज़ को छुरी

---

[1] 'मैंने अपनी सारी पूँजी तेरे सिपुर्द करदी'। यह फ़ारसी कवि निज़ामी गंजवी की मसनवी के "शरफ़ नामा" के एक शेर का पहला मिसरा है: शेर यूँ है: *सिपुर्दम बतू माया-ए-ख़ेश रा // तू दानी हिसाबे कमोबेश रा*;
अर्थात मैंने अपनी सारी पूँजी तेरे सिपुर्द करदी, अब कमी-बेशी के हिसाब को तू जाने ।

समझकर बिदकने लगे। और महीनों की देख-रेख और रखवाली के बावजूद सिर्फ़ अपने स्वाभाविक पूर्वाग्रह के आधार पर हर मुसलमान को अपने खून का प्यासा समझे।

उनसे हेल-मेल और प्रेम बढ़ाने के लिए बच्चों ने हर एक मुर्ग़ा का अलग नाम रख छोड़ा था। अक्सर के नाम भूतपूर्व लीडरों और परिवार के बुज़ुर्गों पर रखे गए। हालाँकि उन बुज़ुर्गों ने कभी इस पर आपत्ति नहीं जताई मगर हमारे दोस्त मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग का कहना था कि यह बेचारे मुर्गों के साथ बड़ा अत्याचार है। लेकिन इन नामों के बावजूद मुझे एक ही नस्ल के मुर्गों में आज तक कोई ऐसी विशेषता नज़र न आई, जो एक मुर्ग़ा को दूसरे मुर्ग़ से अलग कर सके। सच तो यह है कि मुझे सब मुर्ग़, नवजात शिशु और सिख एक जैसी शक्ल के नज़र आते हैं और उन्हें देखकर अपनी नज़र और याददाश्त पर शक होने लगता है। मुमकिन है कि उनकी पहचान और अंतर के लिए विशेष महारत और दक्षता दरकार हो, जिसकी खुद में ताब न पाकर अपनी पाँचों इन्द्रियों से निराश हो जाता हूँ।

एक आम खुशफ़हमी जिसमें शिक्षित लोग आम तौर पर और उर्दू शायर ख़ास तौर पर गिरफ़्तार हैं, यह है कि मुर्ग़ और मुल्ला सिर्फ़ सुबह को अज़ान देते हैं। अट्ठारह महीने अपनी आदतें और चालचलन का ध्यान से अध्ययन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि या तो मैं जानबूझकर ठीक उस समय सोता हूँ जो प्रकृति ने मुर्ग़ के अज़ान देने के लिए निर्धारित किया है या यह अदबदा कर उस वक़्त अज़ान देता है जब खुदा के गुनहगार बन्दे ग़फ़लत की नींद में पड़े हों। संक्षेप में यह कि हमारे सबसे प्यारे समय इतवार की सुबह और तीसरे पहर हैं। आज भी छोटे क़स्बों में बड़ी संख्या में ऐसे अन्धविश्वासी सज्जन मिल जाएँगे जिनकी आस्था है कि मुर्ग़ बांग न दे तो पौ नहीं फटती। इसलिए किफ़ायती लोग अलार्म वाली टाइमपीस ख़रीदने के बजाय मुर्ग़ पाल लेते हैं, ताकि पड़ोसियों को सुबह उठने की आदत रहे। कुछ के गले में प्रकृति ने वह मनमोहक तान प्रदान की है कि नींद के माते तो एक तरफ़ रहे, उनकी बांग सुनकर एक दफ़ा तो मुर्दा भी कफ़न फाड़कर उकडूँ बैठ जाए। आपने कभी ग़ौर किया कि दूसरे जानवरों के मुक़ाबले मुर्ग़ की आवाज़, उसके आकार के लिहाज़ से कम-से-कम सौ गुना ज़्यादा होती है। मेरा विचार है कि अगर घोड़े की आवाज़ भी इसी अनुपात में बनाई गई होती तो ऐतिहासिक युद्धों में तोप चलाने की ज़रुरत पेश न आती।

अब यहाँ यह सवाल किया जा सकता है कि आख़िर मुर्ग़ अज़ान क्यों देता है? हम पक्षियों के मनोविज्ञान के माहिर नहीं। अलबत्ता भरोसेमंद बुज़ुर्गों से सुनते चले आये हैं कि सुबह के समय चिड़ियों का चहचहाना और मुर्ग़ की अज़ान दरअसल प्रार्थना है। इसलिए जब मिर्ज़ा अब्दुल्वदूद बेग ने हमसे पूछा कि मुर्ग़ अज़ान क्यों देता है? तो हमने सीधे सुभाव यही जवाब दिया कि अपने रब की बड़ाई और इबादत करता है।"

कहने लगे "साहब! अगर यह जानवर वाक़ई इतना इबादत-गुज़ार है तो मौलवी इसे इतने शौक़ से क्यों खाते हैं?"

एक दिन मूसलाधार बारिश हो रही थी। थका-हारा बारिश में शराबोर घर पहुँचा तो देखा कि तीन मुर्गे मेरे पलंग पर बाजमात अज़ान दे रहे हैं। सफ़ेद चादर पर जगह-जगह पंजों के ताज़ा निशान थे। अलबत्ता

मेरी समय से पहले वापसी की वजह से जहाँ-जहाँ जगह ख़ाली रह गई, वहाँ सफ़ेद धब्बे बेहद बदनुमा दिख रहे थे। मैंने ज़रा सख़्ती से सवाल किया "आख़िर ये गला फाड़-फाड़कर क्यों चीख़ रहे हैं?"

बोलीं "आप तो ख़ामख़ाह एलर्जिक (ALLERGIC) हो गए हैं। ये बेचारे चोंच भी खोलें तो आप समझते हैं कि मुझे चिढ़ा रहे हैं?"

मेरे सब्र का पैमाना छलक गया। दिल ने कहा, बस बहुत हो चुका। आओ आज दो टूक फ़ैसला हो जाए। "इस घर में अब या तो ये रहेंगे या मैं!" मैंने बिफरकर कहा।

उनकी आँखों में सचमुच आँसू भर आये। घबराकर कहने लगीं "मेंह बरसते में आप कहाँ जाएँगे?"

इस प्रजाति के बारे में एक निराशाजनक रहस्योद्घाटन यह भी हुआ कि चाहे आप मोती चुगाएँ, चाहे सोने का निवाला खिलाएँ, मगर इसको कीड़े-मकोड़े, झींगुर, भुनगे, चींटे और केंचुए खाने से नहीं रोक सकते, और मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि इसका असर और रिसाव अंडे में न हो। फिर मोपासाँ की एक कहानी का हीरो अगर यह दावा करे कि वह ज़र्दी की गंध से यह बता सकता है कि मुर्ग़ी ने क्या खाया था, तो अचंभे की बात नहीं। ख़ुद हमारे यहाँ ऐसे क़ाबिल क़ियाफ़ा-शनास[1] दाल-रोटी पर जी रहे हैं, जो ज़रा सी बोटी चख के न केवल बकरी के चारे बल्कि चालचलन का भी तफ़सीली हाल बता सकते हैं। आपने सुना होगा कि खली और भूसा की ख़ासियत और चौपायों के चालचलन के मद्देनज़र, कुछ नफ़ासतपसंद रजवाड़ों के राजा इस बात का बड़ा ख़याल रखते थे कि जिन भैंसों के दूध की मलाई उनके दस्तरख़्वान पे आए, उनको सुबह-शाम बादाम और पिस्ते खिलाए जाएँ ताकि उसका असल स्वाद और महक बदल जाए। इससे ज़ाहिर होता है कि उस ज़माने में उम्दा दूध की ख़ूबी यह थी कि उसे पीकर कोई यह न कह सके कि यह दूध है।

एक और संगीन ग़लतफ़हमी जिसमें ख़ास और आम सभी गिरफ़्तार हैं, और जिसका मिटाना मैं सार्वजनिक कल्याण के लिए अत्यंत आवश्यक समझता हूँ, यह है कि मुर्ग़ियाँ दरबे और टापे में रहती हैं। मेरे डेढ़ साल के संक्षिप्त लेकिन भरपूर अनुभव का निचोड़ यह है कि मुर्ग़ियाँ दरबे के सिवा हर जगह नज़र आती हैं। और जहाँ नज़र न आएँ, वहाँ अपने आगमन व पावन पदार्पण का अकाट्य प्रमाण छोड़ जाती हैं। इन आँखों ने कई बार ग़ुसलखाने से अंडे और किताबों की अलमारी से जीते-जागते चूज़े निकलते देखे। लिहाफ़ से कुड़ककर मुर्ग़ी और दरबे से शेव की प्याली बरामद होना रोज़मर्रा का मामूल हो गया। और यूँ भी हुआ कि टेलिफ़ोन की घंटी बजी और मैंने लपककर रिसीवर उठाया। मगर मेरे हेलो! कहने से पहले ही मुर्ग़ ने मेरी टाँगों के बीच खड़े होकर अज़ान दी और जिन साहब ने कृपा करके मुझे याद फ़रमाया था उन्होंने "सॉरी! रांग नम्बर!" कहकर झट फ़ोन बंद कर दिया।

फिर एक इतवार की दोपहर को शोर से आँख खुली तो देखता क्या हूँ कि बच्चे असील मुर्ग़ को मार-मारकर अंडाकार पेपरवेट पर बिठा रहे हैं। मानता हूँ इस दफ़ा मुर्ग़ बेक़ुसूर था, लेकिन दूसरे दिन इत्तिफ़ाक़ से दफ़्तर से ज़रा जल्द वापस आ गया तो देखा मोहल्ले भरके बच्चे जमा हैं और उनके सिरों पर चील कव्वे मंडला रहे हैं। ज़रा नज़दीक गया तो पता चला कि मेरे नए कैरम बोर्ड पर लंगड़े मुर्ग़ का जनाज़ा बड़े धूम से

---

[1] क़ियाफ़ा-शनासः शक्ल-सूरत को देखकर भला-बुरा शुगुन लेने वाला; सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता (अनु.)

निकल रहा है[1]। सब बच्चे अपने क़द के मुताबिक़ चार-चार की टोलियों में बँट गए और बारी-बारी कन्धा दे रहे थे। ग़ौर से देखा तो जुलूस के आख़िर में कुछ ऐसे प्रतिभागी भी नज़र आए जो घुटनियों चल रहे थे और इस बात पर धाड़ें मार-मारकर रो रहे थे कि उन्हें कन्धा देने का मौक़ा क्यों नहीं दिया जाता।

और इसके कुछ दिनों बाद विस्मयचकित नेत्रों ने देखा कि पड़ोसियों में मिठाई बाँटी जा रही है। मालूम हुआ "शहरुख़" (चितकबरा मुर्ग़) ने आज पहली बार अज़ान दी है। मैंने इस फ़िज़ूलख़र्ची पर डाँटा तो मेरी चिंता दूर करने के लिए मुझे सूचित किया गया कि ख़ाली बोतलें, मेरे पहले उपन्यास की पांडुलिपि और प्रमाणपत्रों का पुलंदा (जो उनके कथनानुसार दस वर्षों से बेकार पड़ा था) रद्दी वाले को अच्छे दामों बेचकर यह जश्न मनाया जा रहा है। सारांश यह कि चंद ही दिनों में उन्मुक्त गगन के इस पंछी ने घर का वह नक़्शा कर दिया कि इसे देखकर वही शेर पढ़ने को जी चाहता था, जो थोड़ा अलग हालात में, हुसना परी ने हातिम ताई को सुनाया था:

यह घर जो कि मेरा है तेरा नहीं
पर अब घर यह तेरा है मेरा नहीं

अब घर अच्छा-ख़ासा पोल्ट्री-फ़ार्म (मुर्ग़ीपालन केंद्र) मालूम होता था। अंतर सिर्फ़ इतना था कि पोल्ट्री-फ़ार्म में आम तौर से इतने आदमियों के रहने की इजाज़त नहीं होती।

जो सज्जन सांसारिक दुखों व बखेड़ों से तंग और परेशान रहते हों, उनको मेरा सच्चे मन से मशवरा है कि मुर्ग़ियाँ पाल लें। फिर उसके बाद शून्यलोक से कुछ ऐसी नई समस्याएँ और उपद्रव ख़ुद-बख़ुद उठ खड़े होंगे कि उन्हें अपना भूतपूर्व जीवन स्वर्ग का नमूना मालूम होगा!

यह सिलसिला चल ही रहा था कि इधर एक चिंताजनक स्थिति यह प्रकट हुई कि एक मुर्ग़ कटखना हो गया। पहले तो यह हुआ करता था कि जब बच्चे तमाशा देखना चाहते तो दो मुर्गों के मुँह पर तवे की कालिख लगाकर खाने की मेज़ पर छोड़ देते और लड़ाई के बाद मेज़पोश के दाग़-धब्बों को रबड़ से मिटाने की कोशिश करते। लेकिन अब किसी बंदोबस्त की ज़रुरत न रही, क्योंकि वह दिन भर पड़ोसियों के मुर्गों से जिहाद लड़ता और शाम को मुझे लड़ाता। यहाँ यह बताना शायद अनुचित न हो कि मुर्ग़ के मनोरंजन व कर्तव्य निर्वहन के बारे में मेरा अब भी यह विचार है कि

---

[1] यह वाक्य निम्नलिखित शेर की याद दिलाता है जिसका दूसरा मिसरा बहुत मशहूर हुआ और कई शायरों ने पहला मिसरा बदलकर नया शेर कहा है: दो उदाहरण पेश हैं:
महबूब की गलियों में ज़रा घूम के निकले // आशिक़ का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले
चल साथ कि हसरत दिले-मरहूम से निकले // आशिक़ का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले
रईस अमरोहवी की एक नज़्म का शीर्षक है "उर्दू का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले"। इसके आठ बंदहैं और कुल चालीस अशआर हैं और हर बंद का आख़िरी मिसरा यही शीर्षक है। (अनु.)

मुर्गा वह मुर्ग़ियों में जो खेले
न कि मुर्गों में जा के डंड पेले

मामला सहजातियों तक ही रहता तो ग़नीमत था लेकिन अब तो यह ज़ालिम मुर्ग़ियों से ज़्यादा आने-जाने वालों पर नज़र रखने लगा। मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग से एक दफ़ा मैंने ज़िक्र किया तो कहने लगे क्या बात है। हम पर तो बिल्कुल नहीं लपकता। उनके जाने के बाद प्रस्तुत लेखक आदम-क़द आईने के सामने देर तक खड़ा रहा। लेकिन अक्स में बज़ाहिर कोई ऐसी बात नज़र न आई जिसे देखते ही किसी अमनपसंद जानवर की आँखों में ख़ून उतर आए। बहरहाल जब पड़ोसियों की शिकायतें बढ़ीं तो एक मशहूर मुर्ग़बाज़ से संपर्क किया। उसने कहा प्रकृति ने इस पक्षी को हर प्रकार से हरीचुग बनाया है और यह मुर्ग़ शायद इसलिए कटखना हो गया कि आपने इसे बचा-खुचा गोश्त खिला दिया। मैंने घर पहुँचकर निदान से अवगत कराया तो कहने लगीं:

"तौबा! अब हम इतने बुरे भी नहीं कि हमारा झूठा खाके इस मनहूस का यह हाल हो जाए!"

स्वभाव के लिहाज़ से मैं एकान्तप्रिय हूँ। और अगर ये मुर्ग़ियाँ न होतीं तो मोहल्ले में मुझे कोई न जानता। उन दिनों "दरबे वाला मकान" इस इलाक़े में एक प्रकाश-स्तम्भ की हैसियत रखता था जिसके हवाले से हमसाये अपनी गुमनाम कोठियों का पता बताते थे। इन्ही के माध्यम से पड़ोसियों से परिचय और सम्बन्ध हुआ। और इन्ही की बदौलत बहुत सी दूरगामी और दीर्घकालिक कलहों की बुनियाद पड़ी। शमऊन साहब से इसलिए दुश्मनी हुई कि मेरी मुर्ग़ी उनके गुलाब की पौध खा गई। और हारून साहब से इसलिए बिगाड़ हुआ कि उनका कुत्ता उस मुर्ग़ी को खा गया। दोनों मुझी से ख़फ़ा थे। हालाँकि तर्क और इंसाफ़ का तक़ाज़ा तो यह था कि दोनों सज्जन इस झगड़े को आपस में ऊपर ही ऊपर निपटा लेते।

और जिस दिन ख़लील मंज़िल वाले एक भीमकाय "लाइट-ससेक्स" मुर्ग़ कहीं से ले आए तो हमारे दरबों में मानो हलचल मच गई। जब वह गर्दन फुलाकर अज़ान देता तो मुर्ग़ियाँ तड़पकर ही तो रह जातीं। ख़ुद ख़लील साहब उसे देखकर फूले न समाते। हालाँकि मेरी नाचीज़ राय में किसी मुर्ग़ को देखकर इस क़दर ख़ुश होने का हक़ सिर्फ़ मुर्ग़ियों को है। मैं तो इसी वजह से अपने से बेहतर नस्ल का जानवर पालने के सख़्त ख़िलाफ़ हूँ। बहरहाल यह आपनी-अपनी सामर्थ्य और स्वाद का सवाल है, जिससे मुझे फ़िलहाल कोई सरोकार नहीं। कह यह रहा था कि जिस रोज़ से उसका हमारे यहाँ आना-जाना हुआ मुझे अपने सम्बन्ध ख़राब होते नज़र आए। आख़िर एक दिन उसने हमारी बकावली (काली मिनार्का मुर्ग़ी) की आँख फोड़ दी। रात भर अपने भाषण का रिहर्सल करने के बाद मैं दूसरे दिन ख़लील साहब को डाँटने गया। जिस समय मैं पहुँचा तो वे अपनी हथेली पर एक अंडा रखे उपस्थित सज्जनों को इस तरह इतरा-इतराकर दिखा रहे थे जैसे वह उनकी निजी मेहनत और सब्र का फल हो।

मुलाक़ात की रूदाद निम्नलिखित है:

मैंने अपना परिचय कराते हुए कहा "मैं दरबे वाले मकान में रहता हूँ।"

बोले "कोई हर्ज नहीं।"

मैंने कहा "कल आपके मुर्गे ने मेरी मुर्ग़ी की आँख फोड़ दी।"

फ़रमाया "जानकारी के लिए शुक्रिया! दाईं या बाईं?"

याददाश्त पर बहुत ज़ोर दिया। मगर कुछ याद न आया कि कौन सी थी। "इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है!" मैंने झुँझलाकर कहा।

कहने लगे आपके ख़याल से दाएँ बाएँ में कोई फ़र्क़ ही नहीं होता?"

"मगर यह ग़लत बात है।" मैंने असल घटना की तरफ़ तवज्जो दिलाई।

"जी हाँ! खुले तौर पर ग़लत बात है। इसलिए कि आपकी मुर्ग़ी दोग़ली है और ..... "

"और आपका मुर्गा राजहंस है!" मैंने बात काटी।

तड़पकर बोले "आप मुझे बुरा-भला कह लीजिए। मुर्ग़ तक क्यों जाते हैं? (थोड़ा दम लेकर) लेकिन जनाब, अगर वह राजहंस नहीं है तो आपकी मुर्ग़ी यहाँ क्यों आई?"

आख़िर जानवर ही तो है। इंसान तो नहीं जो मुँह बाँधे पड़ा रहे।" मैंने समझाया।

फ़रमाया "आप अपनी पद्मिनी को बाँधके नहीं रख सकते तो बन्दा भी इसकी चोंच पर ग़िलाफ़ चढ़ाने से रहा।"

ग़रज़ कि ज़ुल्म व ज़्यादती के ख़िलाफ़ जब भी आवाज़ उठाई, इसी तरह अपनी रही-सही औक़ात ख़राब कराई।

हालाँकि बार-बार रानीखेत की महामारी आई और आन-की-आन में दरबे-के-दरबे साफ़ कर गई, लेकिन अल्लाह की रहमत से हमारी मुर्ग़ियाँ हर दफ़ा महफ़ूज़ रहीं। मगर आए दिन की दुश्मनियाँ और कलहें रानीखेत से कहीं ज़्यादा जानलेवा साबित हुईं और यह मामला धीरे-धीरे यूँ निपटा कि कुछ मुर्ग़ियाँ तो पड़ोसियों के कुत्ते खा गए और जो उनसे बची रहीं उनको पड़ोसी ख़ुद खा गए।

अल्लाह बस, बाक़ी हवस।

(चिराग़ तले)